National Journal of
Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2025; 1(63): 204-207
© 2025 NJHSR
www.sanskritarticle.com

डॉ० दीपक कुमार पाठक
सहा० आचार्य-संस्कृत विभाग,
नेहरु महाविद्यालय, ललितपुर,
उत्तर प्रदेश, भारत, 284403

Correspondence:
डॉ० दीपक कुमार पाठक
सहा० आचार्य-संस्कृत विभाग,
नेहरु महाविद्यालय, ललितपुर,
उत्तर प्रदेश, भारत, 284403

मुण्डकोपनिषद् में परा-अपरा विद्या: एक दार्शनिक अध्ययन

डॉ० दीपक कुमार पाठक

सारांश (Abstract)

मुण्डकोपनिषद् वैदिक वाङ्मय में ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन का अत्यंत महत्वपूर्ण उपनिषद् है। इसमें परा एवं अपरा विद्या का द्विभेद प्रस्तुत कर ज्ञान की श्रेणीबद्ध संरचना का दार्शनिक निरूपण किया गया है। अपरा विद्या को वेद, वेदाङ्ग आदि लौकिक-शास्त्रीय ज्ञान के रूप में तथा परा विद्या को अक्षरब्रह्म-विज्ञान के रूप में प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत शोधपत्र में परा– अपरा विद्या की संकल्पना, स्वरूप, प्रयोजन, तात्त्विक आधार, शास्त्रीय सन्दर्भ, तथा समकालीन प्रासंगिकता का गहन विश्लेषण किया गया है।

शब्द कुंजी : परा विद्या, अपरा विद्या, ब्रह्मविद्या, अक्षरब्रह्म, उपनिषद्, आत्मज्ञान

भूमिका

उपनिषद्-वाङ्मय भारतीय दर्शन का आत्मा है। उपनिषदों में ज्ञान की सर्वोच्च संकल्पना ब्रह्मविद्या के रूप में प्रतिपादित है। मुण्डकोपनिषद् विशेषतः ज्ञान के द्विविध स्वरूप — परा एवं अपरा — का स्पष्ट विभाजन प्रस्तुत करता है। उपनिषद् का आरम्भ ही ब्रह्मविद्या की परंपरा से होता है— **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।** [1] यह दर्शाता है कि ब्रह्मविद्या दिव्य परंपरा से प्रवाहित है।

परा– अपरा विद्या का मूल स्रोत

मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया — **द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।**[2] अर्थात यहाँ ब्रह्मविद् आचार्य कहते हैं कि जानने योग्य दो ही विद्याएँ हैं— परा और परा। अतः ज्ञान द्विविध कहा गया है।

अपरा विद्या के स्वरूप का विवेचन करते हुए मुंडकोपनिषद कहा गया है**— तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।**[3] अर्थात समस्त ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि वैदिक साहित्य तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष वेदाङ्ग अपरा विद्या के अंतर्गत माने गए हैं। इसके विपरीत परा विद्या वह है जिससे अक्षर (ब्रह्म) का ज्ञान होता है।

अपरा विद्या का स्वरूप

अपरा विद्या लौकिक एवं शास्त्रीय ज्ञान है। यह कर्मकाण्ड, भाषा, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि से संबंधित है। यह ज्ञान आवश्यक है, परंतु अंतिम नहीं।

परिक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।[4] यह मंत्र अपरा विद्या की सीमा और परा विद्या की अनिवार्यता को अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक रूप में प्रतिपादित करता है। यहाँ "परिक्ष्य" शब्द संकेत करता है कि विवेकी साधक (ब्राह्मणः) पहले कर्मों से प्राप्त होने वाले लोकों — स्वर्गादि फल — का सम्यक्

परीक्षण करता है और यह समझता है कि वे सभी अनित्य तथा कर्मजन्य हैं; इसलिए उनसे नित्य, अकृत, अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव नहीं — *"नास्त्यकृतः कृतनेन"*[5] यह बोध उसे "निर्वेद" अर्थात् वैराग्य की ओर ले जाता है, जो परा विद्या की प्राप्ति की पूर्वपीठिका है।

इसके बाद उपनिषद् आदेश देती है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को ऐसे गुरु की शरण में जाना चाहिए जो **"श्रोत्रिय"** (शास्त्रज्ञ) और **"ब्रह्मनिष्ठ"** (अनुभवी) हो। इस प्रकार यह मन्त्र स्पष्ट करता है कि कर्मप्रधान अपरा विद्या आत्मज्ञान का अंतिम साधन नहीं, बल्कि वैराग्य और गुरु-उपदेश के माध्यम से परा विद्या की ओर अग्रसर होने की तैयारी है; अतः यह श्लोक अपरा से परा की दार्शनिक यात्रा का निर्णायक सूत्र है। कर्म से प्राप्त लोकों की सीमितता का बोध होने पर ही उच्चतर ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होती है।

परा विद्या की परिभाषा

मुंडकोपनिषद् परा विद्या को परिभाषित करते हुए कहते है — **यया तदक्षरमधिगम्यते।**[6] अर्थात् जिस ज्ञान से अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है वही परा विद्या है। यहाँ "अक्षर" का अर्थ है— अविनाशी, नित्य, ब्रह्म।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्।
अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।[7]

इस मंत्र में **ब्रह्म** के निर्गुण-निराकार स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ ब्रह्म को इन्द्रियातीत, रूप-रहित, कारण-रहित और सर्वव्यापक बताया गया है।

- "**अद्रेश्यम्**" और "**अग्राह्यम्**" से स्पष्ट है कि ब्रह्म इन्द्रियों और मन-बुद्धि के विषय नहीं है।
- "**अगोत्रम्**" से उसकी अनादि सत्ता सिद्ध होती है।
- "**अचक्षुःश्रोत्रम्**" आदि से यह संकेत है कि ब्रह्म स्वयं इन्द्रियों से रहित होते हुए भी समस्त इन्द्रियों का आधार है।

यही मंत्र है जो परा विद्या के प्रतिपादय विषय ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करता है। वह न तो इन्द्रियों से देखा जा सकता है, न स्पर्श किया जा सकता है, न उसका कोई रूप-रंग है; फिर भी वही समस्त जगत् का मूल, नित्य और सर्वव्यापक सत्य है। यह ब्रह्म इन्द्रियातीत, निराकार एवं अव्यक्त है।

ब्रह्मविद्या का दार्शनिक स्वरूप

मुंडकोपनिषद में ब्रह्मविद्या का दार्शनिक स्वरूप परा– विद्या के रूप में प्रतिपादित है, जो उस अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है जिससे समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होती है। उपनिषद् (१.१.४– ५) में अपरा विद्या (वेद, वेदाङ्ग आदि) और परा विद्या का स्पष्ट भेद करते हुए कहा गया है कि परा विद्या वही है "**यया तदक्षरम् अधिगम्यते**"—जिससे अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है। यह ब्रह्म इन्द्रियातीत, निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापक, सूक्ष्म और अव्यय है—**"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम..."**—अर्थात् जिसे न देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, फिर भी वही समस्त भूतों का मूल कारण है। इस ब्रह्मविद्या का उद्देश्य बौद्धिक सूचना नहीं, बल्कि आत्मसाक्षात्कार है; अतः ३.२.३ में कहा गया**—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः... यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"**[8]—अर्थात् आत्मा केवल वाग्विलास या शास्त्रज्ञान से नहीं, बल्कि आन्तरिक शुद्धि, श्रद्धा और ध्यान से उपलब्ध होता है। यहाँ ब्रह्म को उपादान एवं निमित्त कारण के रूप में प्रस्तुत कर अद्वैतात्मक दृष्टि स्थापित की गई है— जैसे मकड़ी अपने से जाल निकालती है (१.१.७), वैसे ही ब्रह्म से जगत् की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् की ब्रह्मविद्या ज्ञानकर्मसंन्यास-प्रधान, निर्गुण-ब्रह्म के साक्षात्कार की साधना है, जो अविद्या-निवृत्ति द्वारा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरं च।[9] इस मंत्र में उपनिषद् अद्वैत की पराकाष्ठा प्रकट करता है। यहाँ ब्रह्म को केवल जगत् का कारण नहीं, बल्कि जगत् की ही वास्तविक सत्ता के रूप में निरूपित किया गया है। दिशाओं का उल्लेख (पुरस्तात्, पश्चात्, दक्षिणतः, उत्तरम्, अधः, ऊर्ध्वम्) प्रतीकात्मक है—अर्थात् स्थान-काल-वस्तु की समस्त सीमाओं से परे जो सत्ता व्याप्त है, वही ब्रह्म है।

यह दृष्टि भेद-भाव का निरसन करती है और बताती है कि जीव, जगत् और ईश्वर के बीच जो भिन्नता प्रतीत होती है, वह अविद्या के कारण है। तत्वतः सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है। इसी अनुभूति को ब्रह्मविद्या का चरम फल कहा गया है—जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का त्रिपुटी-भेद लीन हो जाता है। परा विद्या आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया है।

गुरु-शिष्य परंपरा

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।[10] इस मंत्र में ब्रह्मविद्या की साधना-पद्धति का मूल सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान केवल तर्क, पठन या बौद्धिक प्रयास से नहीं मिलता; इसके लिए **सम्प्रदाय-परम्परा में स्थित गुरु** का आश्रय आवश्यक है।

- **"गुरुमेव"** — 'एव' शब्द अनिवार्यता को सूचित करता है; अर्थात् बिना गुरु के ब्रह्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान संभव नहीं।

• **"समित्पाणिः"** — बाह्य रूप से समिधा लेकर जाना प्राचीन गुरुकुल-परम्परा का संकेत है, किन्तु आन्तरिक रूप से यह अहंकार-त्याग, सेवा-भाव और आत्मसमर्पण का प्रतीक है।

• **"श्रोत्रिय"** — केवल अनुभवसिद्ध साधु पर्याप्त नहीं; उसे वेद-वेदान्त की यथार्थ परम्परा का ज्ञाता होना चाहिए।

• **"ब्रह्मनिष्ठ"** — केवल शास्त्रज्ञ होना भी पर्याप्त नहीं; उसे आत्मानुभूति में स्थित होना चाहिए।

इस प्रकार यह मंत्र ब्रह्मविद्या के लिए **शास्त्र, गुरु और साधक की त्रिपुटी** को अनिवार्य बताता है। शास्त्र प्रमाण है, गुरु उसका जीवित व्याख्याता है, और श्रद्धावान शिष्य उसका अधिकारी। संक्षेप में, ब्रह्मज्ञान का मार्ग आत्मानुशासन, श्रद्धा, विनय और सद्गुरु-सम्प्रदाय के माध्यम से ही प्रशस्त होता है।

कर्म और ज्ञान का संबंध

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः।[11] अर्थात यज्ञादि कर्म, जिन्हें लोग परम कल्याण का साधन मानते हैं, वास्तव में 'प्लव' (नावके समान तो (हैं, परंतु 'अदृढ'—अस्थिर और दुर्बल हैं। उपनिषद् यहाँ कर्मकाण्ड की सीमाओं को रेखांकित करता हैवे स्वर्गादि लौकिक या अलौकिक : फलों की प्राप्ति तो करा सकते हैं, परंतु नित्य, अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करा सकते। जैसे कमजोर नाव से महासागर पार नहीं किया जा सकता, वैसे ही केवल यज्ञरूप कर्मों से जन्ममरण रूपी --सागर का पारावार संभव नहीं है। इस प्रकार यह मंत्र परा-संसार विद्या की आवश्यकता प्रतिपादित करता है और संकेत देता है कि मोक्ष के लिए कर्म नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञान ही दृढ और अंतिम साधन है। यज्ञादि कर्म नौका के समान हैं, परंतु स्थायी मुक्ति नहीं देते।

आत्मज्ञान की प्रक्रिया

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।[12]

मुंडकोपनिषद का यह मंत्र कहता है कि आत्मा का साक्षात्कार न तो वाक्पटु प्रवचन से, न बौद्धिक तीक्ष्णता से (मेधा), और न ही बहुत अधिक शास्त्रश्रवण से होता है। यहाँ उपनिषद् यह स्पष्ट करता है -कि आत्मज्ञान मात्र बौद्धिक उपलब्धि नहीं, बल्कि अस्तित्वगत अनुभूति है। शास्त्र और तर्क मार्गदर्शक अवश्य हैं, परंतु निर्णायक तत्व है—आन्तरिक शुद्धि, श्रद्धा, अनन्य अभिलाषा और आत्मसमर्पण; इसलिए आगे कहा गया है कि **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"**—जिसे यह आत्मा स्वयं स्वीकार करता है, वही उसे प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह है कि जब साधक अहंकार, दंभ और केवल पांडित्याभिमान का त्याग कर साधना, संयम और गुरुउपदेश के -अनुसार जीवन जीता है, तभी आत्मतत्त्व का प्रकाश उसके अंतःकरण में प्रकट होता है। इस प्रकार यह मंत्र ज्ञान को अनुभव में रूपांतरित करने की अनिवार्यता पर बल देता है। अतः स्पष्ट है कि ज्ञानप्राप्ति केवल बौद्धिक ज्ञान पर्याप्त नहीं।

आत्मानुभूति

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।[13] अर्थात जब साधक परावर-ब्रह्म (कारण और कार्य दोनों के अधिष्ठान) का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसके हृदय की 'ग्रन्थि'—अविद्या, अहंकार और देहाभिमान का गाँठ-जाल—भंग हो जाता है; सभी दार्शनिक और आध्यात्मिक संशय नष्ट हो जाते हैं, और संचित कर्मों का बन्धन क्षीण हो जाता है। यहाँ 'हृदयग्रन्थि' अज्ञानजनित आसक्ति और कर्तृत्व-भोक्तृत्व के मिथ्या भाव का प्रतीक है। ब्रह्मदर्शन से यह मूल अज्ञान नष्ट होता है, जिससे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत मिटकर आत्मैक्य की अनुभूति होती है—यही उपनिषद् के अनुसार मोक्ष की अवस्था है। स्पष्ट है कि जब ब्रह्मज्ञान होता है तब अज्ञान-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है।

परा– अपरा विद्या का तुलनात्मक विवेचन

अपरा विद्या	**परा विद्या**
शास्त्रीय ज्ञान	आत्मज्ञान
कर्मप्रधान	ज्ञानप्रधान
सीमित फल	मोक्षप्रद
बाह्य	आंतरिक

मुंडकोपनिषद में परा और अपरा विद्या का विभाजन दो भागों में किया गया है, जहाँ **अपरा विद्या** के अंतर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि वेदाङ्गों को रखा गया है—अर्थात् वह समस्त शास्त्रीय, भाषिक, अनुष्ठानात्मक और बौद्धिक ज्ञान जो धर्म, यज्ञ और लौकिकअलौकिक फल की प्राप्ति में सहायक हो। इसके विपरीत-**परा विद्या** वह है **"यया तदक्षरम् अधिगम्यते"**[14]—जिससे अविनाशी ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। अपरा विद्या ज्ञान का साधनात्मक और परोक्ष रूप है; वह मनबुद्धि के स्तर पर कार्य करती है और कर्मफल -की सीमा में रहती है, जबकि परा विद्या आत्मानुभूति की प्रत्यक्ष, अविद्यानाशिनी सत्ता है जो मोक्ष का कारण बनती है। इस प्रकार -चरण-चरण है और परा विद्या साध्य-अपरा विद्या साधन; अपरा विद्या बहिर्मुखी, शास्त्रप्रधान और कर्मसंलग्न है, जबकि परा विद्या अन्तर्मुखी, आत्मकेन्द्रित और ज्ञानप्रधान है—दोनों में विरोध नहीं, बल्कि क्रमबद्ध आध्यात्मिक उन्नयन का संबंध है।

अन्य उपनिषदों में समान विचार

मुंडकोपनिषद में प्रतिपादित परा– अपरा विद्या का द्विभाजन अन्य उपनिषदों में भी भिन्न शब्दों में प्रतिध्वनित होता है। **ईशावास्योपनिषद्** (९– ११में (इसे "विद्या" और "अविद्या" का समुच्चय बताकर कहा गया है कि अविद्या से मृत्यु का (कर्म)

से अमृतत्व की प्राप्ति होती है (ब्रह्मज्ञान) अतिक्रमण और विद्या—यह अपरा की ही समन्वित (ज्ञानप्रधान) और परा (कर्मप्रधान) रूपरेखा है। **कठोपनिषद्** में "श्रेय" और "प्रेय" का भेद कर श्रेय को आत्मविद्या का मार्ग बताया गया है, जो परा विद्या के समतुल्य है, जबकि प्रेय इन्द्रियसुख और कर्मफल की दिशा है, जो अपरा के तुल्य है।[15] **छान्दोग्योपनिषद्** में 'एकविज्ञान' द्वारा 'सर्वविज्ञान' की प्रतिज्ञा—"येन अश्रुतं श्रुतं भवति…"—इस बात को पुष्ट करती है कि परम तत्त्व के ज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है; यह परा विद्या की सर्वोच्चता को सूचित करता है।[16] इसी प्रकार **बृहदारण्यकोपनिषद्** में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः…" कहकर आत्मविद्या को अंतिम लक्ष्य घोषित किया गया है।[i] इस प्रकार अन्य उपनिषदों में भी कर्म, लौकिक-शास्त्रीय या इन्द्रियगत ज्ञान को सीमित और (अपरा) मानने की दार्शनिक परंपरा (परा) साक्षात्कार को परम-आत्मब्रह्म स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

वेदान्त में परा विद्या

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।[17] यह सूत्र वेदान्त दर्शन का उद्घोष है।-"अथ" संकेत करता है कि जब साधक विवेक, वैराग्य, शमादिषट्कसम्पत्ति - और मुमुक्षुत्व जैसी आवश्यक आध्यात्मिक योग्यताओं से सम्पन्न हो जाता है, तब "अतः"—अर्थात् संसार की अनित्यता का अनुभव कर लेने के कारण—उसे ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। यहाँ 'जिज्ञासा' केवल बौद्धिक जिज्ञासा नहीं, बल्कि उस परम सत्य के साक्षात्कार की गंभीर तत्त्वचिन्तनात्मक साधना है। इस प्रकार यह - सूत्र वेदान्त के सम्पूर्ण ग्रन्थ का आधार है, जो बताता है कि मानव जीवन का परम पुरुषार्थ ब्रह्मज्ञान है, और शंकराचार्य के अनुसार परा विद्या यही ब्रह्मज्ञान ही है।

समकालीन प्रासंगिकता

परा– अपरा विद्या की अवधारणा, जो मूलतः **मुण्डकोपनिषद्** में प्रतिपादित है, आज के समकालीन बौद्धिक और सामाजिक संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है। अपरा विद्या के अंतर्गत वे समस्त ज्ञान-प्रणालियाँ आती हैं जो भाषा, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अर्थशास्त्र, प्रबंधन, चिकित्सा आदि के रूप में लौकिक उन्नति का आधार बनती हैं; आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था मुख्यतः इसी अपरा विद्या पर केंद्रित है। यह मानव जीवन को सुविधा, संरचना और कार्यकुशलता प्रदान करती है, परंतु अस्तित्वगत प्रश्नों—मैं कौन हूँ? जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है?—का समाधान नहीं कर पाती। यहीं पर परा विद्या की आवश्यकता उभरती है, जो आत्मबोध, नैतिक चेतना, आध्यात्मिक संवेदनशीलता और आंतरिक संतुलन प्रदान करती है। आज जब तकनीकी प्रगति के साथ मानसिक तनाव, अस्तित्वगत शून्यता और मूल्य-संकट बढ़ रहे हैं, तब परा विद्या जीवन को दिशा, अर्थ और करुणा प्रदान करती है। समकालीन शिक्षा-दर्शन में "**होलिस्टिक एजुकेशन**", "**माइंडफुलनेस**" और "**एथिक्स**" की जो प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं, वे वस्तुतः परा विद्या की ही पुनर्स्मृति हैं। अतः वर्तमान युग में अपरा विद्या बाह्य विकास का साधन है और परा विद्या आंतरिक उत्कर्ष का आधार; दोनों का संतुलित समन्वय ही समग्र, मानवीय और सतत विकास की कुंजी है।

निष्कर्ष

मुण्डकोपनिषद् का परा– अपरा विद्या विभाजन ज्ञान की श्रेणीबद्ध संरचना को स्पष्ट करता है। अपरा विद्या आवश्यक है, परंतु अंतिम लक्ष्य परा विद्या है। **स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**[18] कहने का आशय है कि जो साधक उस परम ब्रह्म को तत्त्वतः जान लेता है, वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है—अर्थात् उसकी सीमित जीव-भावना का अंत हो जाता है और वह अपने वास्तविक अद्वैत स्वरूप को पहचान लेता है। यहाँ "**ब्रह्मैव भवति**" का अर्थ किसी नए रूप में परिवर्तन नहीं, बल्कि अविद्या-निवृत्ति के द्वारा अपने नित्य ब्रह्मस्वभाव का अनावरण है। ऐसा ज्ञानी शोक और पाप से परे हो जाता है, क्योंकि हृदय की अज्ञान-ग्रन्थियाँ (अविद्या, काम, कर्म) टूट जाती हैं। इस प्रकार यह मंत्र वेदान्त का चरम निष्कर्ष प्रस्तुत करता है—ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष है, और ज्ञाता तथा ब्रह्म में कोई वास्तविक भेद नहीं रहता।

संदर्भ ग्रन्थ:

1. मुंडकोपनिषद 1.1.1
2. मुंडकोपनिषद 1.1.4
3. मुंडकोपनिषद 1.1.5
4. मुंडकोपनिषद 1.1.12
5. मुंडकोपनिषद 1.1.5
6. मुंडकोपनिषद 1.1.6
7. मुंडकोपनिषद 3.2.3
8. मुंडकोपनिषद 2.2.11
9. मुंडकोपनिषद 1.2.12
10. मुंडकोपनिषद 1.2.7
11. मुंडकोपनिषद 3.2.3
12. मुंडकोपनिषद 2.2.8
13. मुंडकोपनिषद 1.1.5
14. कठोपनिषद 1.2.1-2
15. छान्दोग्योपनिषद् 6.1.3-4
16. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.5
17. ब्राम्हसूत्र 1.1.1
18. मुंडकोपनिषद 3.2.9